

अनन्तर

खबर की कीमत

ओम थानवी

हरियाणा के मुख्यमंत्री भूपेंद्रसिंह हुड्डा ने राज्य की बागडोर फिर संभाल ली है। मगर यह प्रसंग पिछले कार्यकाल का है। चंडीगढ़ में उनके निवास के पिछवाड़े की बगिया में हम धूप में बैठे थे। चौटाला के लोकदल और भारतीय जनता पार्टी के सफाए की खुशी माहौल पर तारी थी। पर इधर-उधर की बातों के बीच एक बात से वे आहत जान पड़े। अखबार वाले से मुखातिब थे, शायद इसलिए भीतर की टीस छलक आई होगी। बोले- अखबारों की तादाद (हरियाणा में) बहुत बढ़ गई है, लेकिन पता नहीं किस दिशा में जा रहे हैं!

इसरार पर बगैर झिझक उन्होंने बताया: रोहतक में विरोधी दल की छोटी-सी सभा थी। उसकी खबर एक हिंदी दैनिक में पहले पेज पर छपी, जिसमें सभा की भीड़ की तादाद कई गुना बढ़ाकर बताई गई थी। मैंने अखबार के मालिक को फोन किया। उन्होंने जवाब दिया कि वह तो विज्ञापन था; जिसने पैसा दिया, उसका मजमून छप गया।

यह जवाब सुनकर हुड्डा हैरान हुए और पूछा कि पैसा देकर क्या कोई कुछ भी छपवा सकता है? जवाब मिला- बिल्कुल, सामग्री का जिम्मा उसी का होता है। मैं सकते में आ गया- हुड्डा बता रहे थे- और उनसे कहा, कल के अंक में पहला पूरा पृष्ठ हमारे लिए बुक कीजिए और एक पंक्ति बड़े-बड़े हफ्तों में हमारे खर्च पर छापिए: ‘‘यह अखबार झूठा है’’। छापेंगे न? अखबार के मालिक बोले, आप कैसी बात कर रहे हैं?

हुड्डा के मुताबिक उन्हें मालिक को यह सुनाते देर नहीं लगी कि पैसा देकर जब कोई भी झूठ छप सकता है तो यह इबारात क्यों नहीं? इसे भी हमारे जिम्मे पर छापिए!

हुड्डा विनम्र स्वभाव के हैं, आसानी से खीझ जाहिर नहीं करते। मगर मुझे जरा संदेह नहीं हुआ कि चुनावी जद्दोजहद के बीच अखबारी गलतबयानी पर उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया इसी तल्खी में जाहिर की होगी।

तब यही लगा कि यह इक्के-दुक्के अखबार की कारगुजारी होगी। ज्यादातर अखबारों पर ऐसी तोहमत शायद नहीं लगाई जा सकती थी। मगर आगे आने वाले बिहार-उत्तर प्रदेश के विधानसभा चुनावों और फिर लोकसभा और महाराष्ट्र विधानसभा चुनाव में ऐसी शिकायतें आम हो गईं। देखते-देखते ‘पेड न्यूज’ का सिलसिला एक ओढ़ी गई बीमारी की तरह छोटे-मोटे अनेकानेक अखबारों को घेरता दिखाई देने लगा।

सब जानते हैं, बरसों से हर चुनाव में प्रादेशिक अखबार उम्मीदवारों से कैसे प्रचार या समर्थन के इजहार वाले इशतहार दबाव से हासिल करते थे। बदले में उनकी चुनावी रैलियों का बेहतर कवरेज मुहैया करवाया जाता था। हाल के चुनावों में बड़ा फर्क यह आया कि उम्मीदवारों से मनचाहे बयान और सभाओं के ब्योरे कीमत लेकर जस-के-तस छापे गए। इशतहार के साथ छपे बयान का ज्यादा असर नहीं होता। यह बयानबाजी असरदार साबित हुई। जिसने ज्यादा रकम देकर प्रचार पाया, उसका झूठ विरोधियों को तिलमिला गया। वसूली चौड़े में आ गई। लेकिन क्या उसे शह भी नेताओं ने नहीं दी?

कहने का यह मतलब न निकालें कि यह पत्रकार बिरादरी की तरफदारी करते हुए नेताओं को कसूरवार ठहराने की कोशिश है। लेकिन ताली एक हाथ से नहीं बजती। आयोग के हर कायदे को धता बताते हुए हमारे उम्मीदवार चुनाव लड़ते हैं। पैसा पानी की तरह बहता है। सोचते होंगे, थोड़ा पानी अखबारों की तरफ बह जाए तो हर्ज क्या है। इससे दोनों की प्यास बुझती है। एक ही शर्त कि भरपाई इशतहार की शक्ल में न हो। इसका उनको दोहरा लाभ है। एक तो यह चुनावी खर्च, खर्च नहीं ठहराया जाएगा। दूसरा, ज्यादा बड़ा, फायदा यह कि खबर की शक्ल में प्रचार अधपढ़ समुदाय को ज्यादा प्रभावित करेगा, बनिस्बत इशतहारी प्रचार के।

हुड्डा तो खैर उस चुनाव से पहले सत्ता में नहीं थे। जो सत्ता में रहते हैं, उनके अखबारों से राग-विराग के अपने रिश्ते बनते हैं। ऐसे रागियों की प्रतिक्रियाएं बड़ी दिलचस्प रहीं। बताते हैं, उत्तर प्रदेश के भाजपा नेता लालजी टंडन ने एक अखबार को कोसते हुए कहा कि कानपुर में उनके दल ने अखबार के दिवंगत मालिक के नाम पर पुल का नाम रखवाया, जमीनें दिलवाईं। उसी अखबार ने खबरों के लिए पैसे मांगे, “ऐसी निर्लज्जता?”

कोई पूछे कि भाजपा ने पुल का नामकरण पत्र के मालिक के नाम पर किस मकसद से किया होगा? किस भाव से नेता अखबारों को सस्ती जमीनें देते हैं?

कुछ रोज पहले मुंबई में पी. साईनाथ के साथ एक संगोष्ठी में शरीक था। उन्होंने महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री के विधानसभा क्षेत्र में बेनामी इशतहारों की पोल कई अखबारों के पन्ने दिखाते हुए खोली। मजे की बात यह थी कि संगोष्ठी के अगले दौर में मुख्यमंत्री अशोक चव्हाण खुद आने वाले थे। वे आए। पर संभवतः शिष्टाचार में किसी पत्रकार ने उनसे जिरह नहीं की। एक ने सवाल पूछ लिया: जवाब मिला- मामला चुनाव आयोग के सामने विचाराधीन है, अभी इस पर बात करना मुनासिब न होगा। कब होगा?

पिछले साल बिहार चुनाव में स्व. प्रभाषजी जब पूर्व विदेश राज्यमंत्री दिग्विजय सिंह के चुनाव क्षेत्र में थे, उन्हें प्रायोजित चुनावी कवरेज के लिए नामी अखबारों के रेट-कार्ड मिले। मेरे मित्र अनुराग चतुर्वेदी ने उन्हें मनचाही खबरें और तस्वीरें छपवाने के लिए तय दरों के ‘पैकेज’ और ‘रीचार्ज पैकेज’ की पुख्ता जानकारी दी। दिल्ली लौट कर उन्होंने इस भ्रष्टाचार के खिलाफ जिहाद बोला। धुआंधार लिखा, प्रेस काउंसिल गए, सरकार से भिड़े। हृदय ने असमय दगा न किया होता तो मुहिम को वे किसी तार्किक परिणति के करीब पहुंचता देखते।

पर प्रभाषजी और साईनाथ आदि जुझारू पत्रकारों की कोशिशें अब रंग ला रही हैं। पैसा लेकर खबरों की प्रवृत्ति के खिलाफ विवेकशील पत्रकार और संगठन एकजुट हो गए हैं। प्रेस काउंसिल, एडीटर्स गिल्ड, सूचना-प्रसारण मंत्रालय, सार्वजनिक और स्वैच्छिक संगठन अपनी दो टूक राय रख रहे हैं। हर दूसरे दिन किसी संगोष्ठी की सूचना देखने में आती है। उम्मीद बंधती है कि इसका असर होगा।

लेकिन 'पेड न्यूज' अकेली बीमारी नहीं है। नई और ज्यादा मुखर जरूर है। कुछ चीजें और हैं, जिन्हें लगे हाथ निराकरण प्रयासों के दायरे में ले आना चाहिए। जैसे राजनीतिक दलों और व्यापारिक प्रतिष्ठानों के हाथों मीडिया के जाने-अनजाने इस्तेमाल होने का कुचक्र। मीडिया को कीमत मिलती है और समाज के सामने प्रायोजित सामग्री परोस दी जाती है। यह काम इतनी चतुराई से होता है कि उसे आसानी से नहीं पकड़ा जा सकता। हालांकि पकड़ना नामुमकिन नहीं है।

एक पूरा तंत्र विकसित है, जो पेशेवराना तौर पर मीडिया को "मैनेज" करता है। निजीकरण के दौर में भी नेहरू जी की रूसी प्रेतछाया सरकारी प्रचार तंत्र पर कायम है। अपने रेडियो स्टेशन, टीवी चैनल और पत्रिकाओं के बावजूद 'मीडिया मैनेजमेंट' के लिए जिला प्रशासन से लेकर प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति कार्यालय तक प्रचार अधिकारी तैनात हैं। राजनीतिक दलों और सार्वजनिक व व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के पास अपने प्रचार प्रबंधक हैं। उन पर होने वाले खर्च का जोड़ लगाएंगे तो अरबों का हिसाब बैठेगा। उनका काम क्या है? डायरी-कैलेंडर से लेकर शराब, मकान, जमीन, देश-परदेस के सैर-सपाटे जैसे लालच भुगता कर मनमाफिक चीजें शाय करवाने के प्रयास करना। प्रयासों की सफलता पाठक, दर्शक या श्रोता के कितने हक में काम करती है, कितने खिलाफ-इसकी हकीकत समझने की कोशिश होनी चाहिए।

चुनाव के दौरान संपादकों और संवाददाताओं के अपने आग्रह-दुराग्रह अपनी जगह होते हैं, उन्हें मिलने वाली सामग्री हमेशा क्या जरूरी खोजबीन के बाद छपती है? मसलन कुछ दल अपने पसंदीदा सर्वेकार से चुनावी सर्वे कराते हैं और उसे ठीक मतदान से पहले जारी करते हैं। कुछ संपादक उसे नजरअंदाज कर देते हैं, कुछ प्रमुखता से प्रकाशित करते हैं। चतुरसुजान जानते हैं कि कौन अखबार किस चीज को छापेंगे, किसको नहीं।

बड़ा मुद्दा समाज को झूठी या कच्ची खबरों से गुमराह न होने देना है। 'पेड न्यूज' उसका एक साफ दिखने वाला रूप है, जिससे टीवी भी बचा नहीं है। अखबार 'जगह' बेचते हैं, टीवी 'वक्त'। यहां तक कि इंटरनेट भी इसकी गिरफ्त में आ चुका है। टीवी पर मतदान से पहले सर्वेक्षण और नमूने के नतीजे भी खूब प्रसारित होते रहे हैं। इतने बड़े देश में चुनाव एक साथ नहीं हो पाते। एक जगह के नतीजे से दूसरी जगह हवा बन या बिगड़ सकती है। मगर सिर्फ 'वैज्ञानिक' अंदाजे वाले नतीजे जिज्ञासा के मारे हुए दर्शकों को परोसने का क्या सबब हो सकता है? लोग हार-जीत और सरकार बनने-गिरने के फैसलाकुन अनुमानों- जिन्हें भरोसेमंद लोग पेश करते हैं- को देखने-

सुनने को उमड़ पड़ते हैं। उनके साथ उमड़े आते हैं बेतहाशा इशतहार। मानो व्यवसाय जगत की सब थैलियां इसी तरफ खुल गई हों।

‘पेड न्यूज’ न सही, धन का लोभ टीवी को भी अपनी ओर कम नहीं खींचता। चुनावी सर्वे और उनके आकलन का सिलसिला पहले पत्र-पत्रिकाओं ने शुरू किया था। इससे उन्हें ज्यादा पाठक मिलते थे। टीवी को दर्शक और विज्ञापन दोनों का फायदा है। लेकिन दर्शकों को गुमराह करने की कीमत पर। उचित ही है कि चुनाव आयोग ने मतदान को प्रभावित करने वाली ऐसी गतिविधियों पर बंदिश लागू कर दी है।

मीडिया का काम जानकारी देना माना जाता है। पाठक या दर्शक-श्रोता की समझ बढ़ाना भी उसका काम है। धन लेकर प्रायोजित सामग्री में भागीदार बनने से भ्रमित करने वाली जानकारी का प्रसार होता है तो इसे भी समस्या मानकर सरोकारों में शामिल करना चाहिए। ऐसे ही उठाने-गिराने वाली राजनीतिक खबरों और बाजार को हवा देने वाली व्यापारिक खबरों के निहितार्थ और प्रयोजन पकड़े जाने चाहिए।

खुशी की बात है कि एडीटर्स गिल्ड ने ‘पेड न्यूज’ के मामले को बहुत गंभीरता से लिया है। ‘खबरों के भेस में राजनीतिक विज्ञापनों’ को लेकर गिल्ड का प्रतिनिधिमंडल चुनाव आयोग से भी मिला है। मेरे खयाल में इन कोशिशों का दायरा बढ़ाना चाहिए। चुनावों से बाहर आम दिनों में भी ‘पेड न्यूज’ छपती हैं। एक उदाहरण लीजिए। पिछले महीने- 4 फरवरी को- दिल्ली के एक नए हिंदी दैनिक में विश्व पुस्तक मेले पर एक पूरा पृष्ठ निकला। पुस्तक-प्रेमियों ने उसे चाव से पढ़ा होगा। सामग्री क्या थी? पहले कॉलम में पहला आलेख: “पुस्तकों की दुनिया में बदलाव आना स्वाभाविक है। ये बदलाव अब लाएगा पेजिस बुक स्टोर। नोएडा सेक्टर 18 के रायल पैलेस में स्थित पेजिस बुक स्टोर ...”। दूसरे आलेख का शीर्षक: “शैक्षिक पुस्तकों का उच्च प्रकाशन: वृंदा पब्लिकेशन”। तीसरा: “सफलता का पर्याय है उपकार प्रकाशन”। चौथा: “आकार बुक्स: पुस्तक प्रकाशन में नया आयाम”।

शीर्षक देखकर ही समझ में आ गया कि पैसे के बदले छापी गई सामग्री है। इसका सबूत भी पृष्ठ पर मौजूद था- उन्हीं प्रकाशकों के इशतहार जिनकी दुकानों के आलेख या चित्र खबर की शक्ल में, बगैर किसी हवाले या स्रोत के, प्रकाशित किए गए थे।

चुनावी खबर हो तो शोर भी मच सकता है, मगर क्या कोई पुस्तक-प्रेमी ऐसी सामग्री से गुमराह नहीं हुआ होगा? वह कैसे जानेगा कि किसी प्रकाशक या किताब को महान बताना महज एक सौदा है? माना जा सकता है कि शायद विज्ञापन विभाग खबरों-लेखों को इशतहार बताना भूल गया हो। लेकिन यह भी सच है कि इशतहार को खबर की शक्ल में छपवाने के ज्यादा दाम मिलते हैं। इसे ही कहते हैं- इस हाथ ले, उस हाथ दे!